ध्यान क्या है?

आचार्य श्री रजनीश

"सत्य को पाना है तो मिटना होता है। मृत्यु के मूल्य पर अमृत मिलता है। बूँद जब स्वयं को सागर में खो देती है, तो वह सागर हो जाती है।"

संत तारण तरण जयन्ती के इस मंगल अवसर पर हम आचार्य श्री रजनीश का एक अमृत प्रवचन प्रकाशित कर रहे हैं। राणकपुर, राजस्थान के निकट; श्री मुछाला महावीर के पर्वतीय एकांत में आयोजित एक साधना शिविर में उन्होंने ये विचार प्रगट किये थे। यह शिविर आचार्य श्री के सान्निध्य और सत्संग के लिए आयोजित हुआ था।

आचार्य श्री की वाणी में सत्य का जो प्रकाश है और स्वानुभूति की जो शक्ति है, वह आपके पथ को आलोकित करे और आपके चरणों को शक्ति दे कि आप भी वहीं पहुँच सकें जहाँ

पहुँचने के लिए कि जीवन एक अवसर है, ऐसी हमारी कामना है। यह अवसर बहुमूल्य है, इसे क्षुद्र में नहीं खो देना है। प्रत्येक के भीतर जो प्रभु है, उसे जानना है और जीना है। उसे पाकर ही जीवन में अर्थ और आनन्द उपलब्ध होता है।

संत तारण तरण जयन्ती समारोह समिति, सागर

अध्यक्ष :	मंत्री :
सेठ डालचंद	**श्री कपूरचंद समैया**

★

"मैं आपको देखकर अत्यंत आनंदित हूं। ईश्वर को, सत्य को, स्वयं को पाने को आप इस निर्जन में इकट्ठे हुये हैं। **लेकिन क्या मैं आप से पूछूं कि जिसे आप खोज रहे हैं, क्या वह आप से दूर है? जो दूर हो उसे खोजा जा सकता है, पर जो स्वयं आप हो, उसे कैसे खोजा जा सकता है?** जिस अर्थ में शेष सब खोजा जा सकता है, स्व उसी अर्थ में नहीं खोजा जा सकता है। वहां जो खोज रहा है, और जिसे खोज रहा है, उन दोनों में दूरी जो नहीं है। **संसार की खोज होती है, स्वयं की खोज नहीं होती है, और जो स्वयं को ही खोजने निकल पड़ते हैं, वे स्वयं से और दूर ही निकल जाते हैं।**

यह सत्य ठीक से समझ लेना आवश्यक है, तो खोज हो भी सकती है। संसार को पाना हो तो बाहर खोजना पड़ता है, और यदि स्वयं को पाना हो तो सब खोज छोड़कर अनुद्विग्न और थिर होना पड़ता है। उस पूर्ण शांति और शून्य में ही उसका दर्शन होता है, जोकि मैं हूं। स्मरण रखें कि खोज (Search) भी एक उद्विग्नता और एक तनाव (Tension) है। वह भी एक चाह (Desire) और वासना (Passion) है। और, **वासना से आत्मा को नहीं पाया जा सकता है। वही तो बाधा** है। वासना का अर्थ है कि मैं कुछ होना चाहता हूं या कि कुछ

पाना चाहता हूं। और, आत्मा वह है जो कि मुझे उपलब्ध ही है, जो कि मैं हूं ही। वासना और आत्मा की दिशायें विपरीत हैं। वे विरोधी आयाम (Dimension) हैं। इसलिये, यह ठीक से समझ लें कि आत्मा को पाया तो जा सकता है, पर चाहा नहीं जा सकता है। आत्मा की कोई चाह नहीं हो सकती है। सब चाह सांसारिक है, और कोई चाह आध्यात्मिक नहीं है। वासना ही तो संसार है। फिर, यह वासना धन की हो या धर्म की, पद की हो या प्रभु की, मद की हो या मोक्ष की, उसमें भेद नहीं है। वासना वासना है, और सब वासना अज्ञान है और बंधन है।

मैं आत्मा को चाहने को नहीं कहता हूं। मैं तो चाह को समझने को कहता हूं। वासना का ज्ञान वासना से मुक्त कर देता है, क्योंकि वासना का ज्ञान उसके दुखस्वरूप को प्रगट कर देता है। दुख का बोध दुख से मुक्ति है, क्योंकि दुख को जानकर कोई दुख को नहीं चाह सकता है। और, उस क्षण, जब कोई चाह नहीं होती है, और चित्त वासना से विक्षुब्ध नहीं होता है, और हम कुछ खोज नहीं रहे होते हैं—उसी क्षण, उस शांत और अकम्प क्षण में ही उसका अनुभव होता है, जो कि हमारा वास्तविक होना (Authentic Being) है। वासना जब नहीं होती है, तब आत्मा प्रगट होती है। इसलिये, मित्र, मैं कहूंगा कि आत्मा को मत चाहो, चाह को जानो और उससे

मुक्त हो जाओ, तो तुम उसे जान लोगे और पा लोगे जोकि आत्मा है।

धर्म क्या है ? धर्म का विचार से, चिन्तन (Thinking) से कोई संबंध नहीं है। उसका संबंध निर्विचारणा से है। विचारणा तत्वमीमांशा (Philosophy) है। उससे निष्पत्तियां तो आती हैं, पर समाधान नहीं आता है। धर्म समाधान है। विचार का द्वार तर्कणा है, समाधान का द्वार समाधि है। समाधि=शून्य+चैतन्य (Contentless Consciousness)। चित्त शून्य हो पर जाग्रत (Watchful) हो, उस शांतस्थिति में सत्य के द्वार खुलते हैं। शून्य में ही सत्य का साक्षात होता है, और परिणामस्वरूप सारा जीवन परिवर्तित हो जाता है। शून्य तक, समाधि तक ध्यान (Meditation) से पहुंचते हैं। पर साधारणत: जिसे ध्यान समझा जाता है, वह ध्यान नहीं है। वह भी चिंतन ही है। हो सकता है कि वे विचार आत्मा के हों या परमात्मा के हों, पर वे भी विचार ही हैं। इससे भेद नहीं पड़ता है कि विचार किसके हैं। विचार मात्र वस्तुत: पर का, अन्य का, वाह्य का होता है। विचार मात्र अनात्म का होता है। 'स्व' का कोई विचार नहीं हो सकता है। विचार के लिये दो का होना जरूरी है। विचार इसलिये द्वैत (Duality)

के बाहर नहीं ले जाता है। **अद्वैत में, स्व में चलना है और उसे जानना है तो विचार नहीं, ध्यान मार्ग है।** विचार और ध्यान बिल्कुल विपरीत दिशायें हैं। एक बहिर्गामी है, एक अन्तर्मुखी है। विचार 'पर' को जानने का मार्ग है, ध्यान 'स्व' को जानने का। पर साधारणतः विचार को ही ध्यान समझ लिया गया है। यह भूल बहुत गहरी और बड़ी है। मैं इस आधारभूत भूल के प्रति आपको सजग करना चाहता हूं।

ध्यान का अर्थ है क्रियाहीन होना। ध्यान क्रिया नहीं अवस्था है। वह अपने स्वरूप में होने की स्थिति है। क्रिया में हम अपने से बाहर के जगत से संबंधित होते हैं। अक्रिया में स्वयं से संबंधित होते हैं। **जब हम कुछ भी नहीं कर रहे हैं, तब हमें उसका बोध होता है जोकि हम हैं।** अन्यथा, क्रियाओं में व्यस्त हम स्वयं से ही अपरिचित रह जाते हैं। यह स्मरण भी नहीं आ पाता है कि हम भी हैं। हमारी व्यवस्तता बहुत सघन है। शरीर तो विश्राम भी कर ले, मन तो विश्राम करता ही नहीं है। जागते हम सोचते हैं, सोते स्वप्न देखते हैं। इस सतत व्यस्तता और क्रिया से हम घिरे हुये, हम स्वयं को भूल ही जाते हैं। अपनी ही क्रियाओं की भीड़ में अपना ही खोना हो जाता है। यह कैसा आश्चर्यजनक है, पर यही हमारी वस्तुस्थिति है। हम खो गये हैं। किन्हीं, अन्य लोगों की भीड़

में नहीं अपने ही विचारों, अपने ही स्वप्नों, अपनी ही व्यस्तताओं और अपनी ही क्रियाओं में, हम अपने ही भीतर खो गये हैं। ध्यान इस स्व-निर्मित भीड़ से, इस कल्पित भटकन से बाहर होने का मार्ग है। निश्चित ही वह स्वयं कोई क्रिया नहीं हो सकता है। वह कोई व्यस्तता (Occupation) नहीं है। वह अव्यस्त मन (Unoccupied Mind) का नाम है। मैं यही सिखाता हूं। यह कैसा अजीब सा लगता है कहना कि मैं अक्रिया सिखाता हूं ! और, यह भी कि यहां हम अक्रिया करने को इकट्ठे हुये हैं ! मनुष्य की भाषा बहुत कमजोर है और बहुत सीमित है। वह क्रियाओं को ही प्रगट करने को बनी है, इसलिये आत्मा को प्रगट करने में सदा असमर्थ हो जाती है। निश्चित ही जो वाणी के लिये निर्मित है, वह मौन को कैसे अभिव्यक्त कर सकती है ?

'ध्यान' (Meditation) शब्द से प्रतीत होता है कि वह कोई क्रिया है, पर वह क्रिया बिल्कुल भी नहीं है। मैं कहूं कि 'मैं ध्यान करता था' तो गलत होगा, उचित होगा कि मैं कहूं कि 'मैं ध्यान में था।' वह बात प्रेम जैसी ही है। मैं प्रेम में होता हूं। प्रेम किया नहीं जाता है। इसलिये मैंने कहा कि ध्यान एक चित्त अवस्था (State of mind) है।

यह प्रारम्भ में ही समझ लेना बहुत जरूरी है। हम यहां कुछ करने को नहीं, वरन् उस स्थिति को अनुभव करने

आये हैं, जब बस केवल हम होते हैं, और कोई क्रिया हममें नहीं होती है। क्रिया का कोई धुआं नहीं होता है और केवल सत्ता (Being) की अग्निशिखा ही रह जाती है। बस, 'मैं' ही रह जाता हूं। यह विचार भी नहीं रह जाता है कि 'मैं' हूं, बस 'होना' मात्र ही रह जाता है। इसे ही शून्य समझें। यही वह बिन्दु है जहां से संसार का नहीं, सत्य का दर्शन होता है। इस शून्य में ही वह दीवार गिर जाती है, जो मुझे स्वयं को जानने से रोके हुए है। विचार के पर्दे उठ जाते हैं, और प्रज्ञा का आविर्भाव होता है। इस सीमा में विचारा नहीं, जाना जाता है। दर्शन है यहां, साक्षात् है यहां। यद्यपि न दर्शन शब्द ठीक है, न साक्षात् शब्द ठीक है। क्योंकि, यहां ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं है, क्योंकि यहां दृश्य (Object) और दृष्टा (Subject) का भेद नहीं है। यहां न ज्ञेय (Known) है, न ज्ञाता (Knower) है, यहां तो केवल ज्ञान (Knowledge) ही है। यहां तो कोई भी शब्द ठीक नहीं है। यहां निःशब्द ही ठीक है। उस संबंध में कोई पूछता है तो मैं मौन ही रह जाता हूं, या कि कहूं कि मौन से ही कहता हूं।

ध्यान अक्रिया है। क्रिया हम उसे कहते हैं जिसको हम चाहें तो करें चाहें तो न करें। स्वभाव क्रिया नहीं है। बह है।

वह हमारा करना, न करना, नहीं है। उदाहरण के लिये ज्ञान और दर्शन स्वभाव के अंग हैं। वे हमारी सत्ता हैं। हम कुछ भी न करें, तब भी वे होंगे ही। स्वभाव की उपस्थित हममे अविछिन्न है। जो सतत् और अविछिन्न (Constant & continuous) है, उसे ही स्वभाव कहा जाता है। वह हमारा निर्माण नहीं, हमारा आधार है। वही हम हैं। हम उसे नहीं बनाते हैं। वही हमें धारण किये हुये है, इसलिये उसे धर्म कहा है। धर्म यानी स्वभाव, धर्म यानी शुद्ध सत्ता (Existence)। यह अविछिन्न स्वभाव क्रियाओं के विछिन्न प्रवाह में दब जाता है। सागर को जैसे लहरें ढांक लेती हैं, सूरज को जैसे बदलियां ढांक लेती हैं, ऐसे ही हम अपनी ही क्रियाओं से ढँक जाते हैं। सतह पर क्रियाओं का आवरण, जो गहरे में है, उसे छिपा लेता है। क्षुद्र लहरें सागर की असीम गहराई पर आवरण बन जाती हैं। कैसा आश्चर्य है कि क्षुद्र से विराट दब जाता है? आंख में गिरा छोटा सा तिनका पर्वतों को ओझल कर लेता है। पर सागर लहरों में मिटता नहीं है, लहरों का भी प्राण वही है, और लहरों में भी वह उपस्थित है। जो जानते हैं, वे उसे लहरों में भी जानते हैं, पर जो नहीं जानते हैं, उन्हें लहरों के शान्त होने तक प्रतीक्षा करनी होती है। लहरों के न हो जाने पर उन्हें सागर के दर्शन होते हैं। इस स्वभाव में ही चलना है। लहरों को छोड़कर सागर में चलना है। अपनी उस गहराई (Depth) को जानना

है, जहां सत्ता है, सागर है, पर तरंगें नहीं हैं। जहां आत्मा (Being) है, पर वासना (Becoming) नहीं है। वह निस्तरंग निष्कंप प्रज्ञा का जगत प्रतिक्षण हममें उपस्थित है, पर हम उसकी ओर उपस्थित नहीं हैं। हम उसकी ओर उन्मुख नहीं हैं। हम बाहर देख रहे हैं। हम वस्तुओं को देख रहे हैं। हम संसार को देख रहे हैं। **पर एक बात को देखें कि हम 'देख' रहे हैं। जो दिखाई पड़ता है वह संसार है, पर जो देख रहा है, वह तो संसार नहीं है। वह तो स्व है। दृष्टि दृश्य से बंधी हो तो विचार है। दृष्टि दृश्य से मुक्त हो, द्रष्टा पर आ जाये तो ध्यान है।** विचार और ध्यान का मेरा भेद समझ रहे हैं न ? दर्शन, देखना तो दोनों में उपस्थित है, पर एक में वह बिषयगत (Objective) है, दूसरे में आत्मगत (Subjective) है। पर हम विचार में हों, या ध्यान में हों, दर्शन तो दोनों में ही उपस्थित होता है। हम क्रिया में हों या अक्रिया में 'दर्शन' तो दोनों में ही उपस्थित रहता है। जागृति में संसार को देखते हैं, निद्रा में स्वप्न को देखते हैं, समाधि में स्वयं को देखते हैं। पर देखना हर स्थिति में साथ होता है। यह 'देखना' हममें अविछिन्न है। वह हमारा स्वभाव है, यह किसी भी स्थिति में अनुपस्थित नहीं होता है। मूर्च्छा और सुषुप्ति में भी वह होता है। मूर्च्छा के बाद हम कहते हैं कि मैं कहां था, मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं है। इसे अज्ञान न समझ लें। यह भी ज्ञान है। यदि, दर्शन

बिल्कुल मिट गया होता तो 'मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं है' यह बोध भी नहीं हो सकता था। उस स्थिति में वह समय ही मेरे लिए नहीं हो जाता, जो मूर्च्छा में बीता है। वह मेरे जीवन का ही हिस्सा नहीं हो सकता था और मेरी स्मृति में उसका कोई भी अंकन नहीं होता। हम जानते हैं कि हम किसी ऐसी स्थिति में थे कि कुछ भी नहीं जान रहे थे, यह ज्ञान ही है और दर्शन इसमें भी उपस्थित रहा है। स्मृति ने निश्चित ही इस बीच कोई अंतर या बाह्य घटना अंकित नहीं की है, लेकिन दर्शन ने इस अंतराल (Interval) को, इस रिक्त स्थान (Gap) को अवश्य देखा है, अनुभव किया है। और अंतराल का यही अनुभव घटनाओं के अंकन के बीच में छूटा यही रिक्त स्थान बाद में स्मृति भी जान लेती है। ऐसे ही, सुषुप्ति में भी, जब कोई स्वप्न भी नहीं होता है, तब भी दर्शन उपस्थित रहता है। सुबह जागकर हम कह पाते हैं कि रात्रि बड़ी गहरी नींद थी, इतनी कि कोई स्वप्न भी नहीं था। यह स्थिति भी देखी गई है। इससे समझें कि **स्थितियाँ बदलती हैं। चेतना विषय (Content) बदलते हैं, पर दर्शन नहीं बदलता है। हमारे अनुभव में सब बदल जाता है, सब प्रवाह है, केवल वही एक नित्य उपस्थिति है। वह अकेला ही सारे परिवर्तन, सारे प्रवाह का साक्षी (Witness) है। इस नित्य को ही जानना स्व को जानना है, क्योंकि वही अकेला केवल स्वभाव है। शेष सब अन्य है, पर है। शेष सब संसार है।**

इस साक्षी को किसी क्रिया, किसी पूजा, किसी आराधना, किसी मंत्र, किसी तंत्र से नहीं पाया जा सकता है, **क्योंकि वह उन सबका भी साक्षी है।** वह उन सबसे भी अन्य और प्रथक है। जो भी दृश्य है, जो भी कर्म है, वह उससे अन्य और भिन्न है। **वह** तो क्रिया नहीं, अक्रिया से मिलेगा, वह तो कर्म से नहीं, शून्य से मिलेगा। वह तो उस समय मिलेगा जब न तो कोई कर्म है, न कोई दृश्य है, जब केवल साक्षी मात्र ही शेष रह गया है, जब केवल दर्शन मात्र ही शेष रह गया है। जब हम देख तो रहे हैं, पर दिखाई कुछ भी नहीं पड़ रहा है, जब हम जान तो रहे हैं पर जान कुछ भी नहीं रहे हैं, इस विषय शून्य चैतन्य (Contentless Consciousness) में वह जाना जाता है, जोकि सबको जानने वाला है। **दृश्य जब नहीं हैं, तब दृष्टा के आवरण गिरते हैं और ज्ञेय जब कुछ भी नहीं है तब ज्ञान जागृत होता है।** तरंगें जब नहीं होती हैं, तब सागर के दर्शन होते हैं। और, बदलियां जब नहीं होती हैं तो नीलाकाश के दर्शन होते हैं। यह सागर प्रत्येक के भीतर है, और यह आकाश (Space) प्रत्येक के भीतर है। हम इस आकाश को जानना चाहते हैं, तो निश्चय ही जान सकते हैं। इस आकाश तक पहुंचने का रास्ता भी है। वह भी प्रत्येक के ही पास है। और हममें से प्रत्येक उस पर चलना भी जानता है। **पर हम केवल एक ही दिशा (Direction) में चलना जानते हैं।** क्या आपने इस सत्य पर कभी विचार किया है कि

कोई भी रास्ता केवल एक दिशागामी नहीं हो सकता है? प्रत्येक राह अनिवार्यतः दो दिशाओं में, दो विपरीत दिशाओं में सत्ता रखती है। उसके होने के लिये ही यह अनिवार्य है कि वह एक ही साथ दो विपरीत दिशाओं में हो। अन्यथा वह हो ही नहीं सकती है। जो मार्ग आपको यहां इस पहाड़ी निर्जनता तक ले आया है........वही आपको वापिस भी ले जायेगा। आने का और जाने का मार्ग एक ही है। वही मार्ग दोनों काम करेगा। **मार्ग तो वही होगा........केवल दिशा वही नहीं होगी। संसार और स्व का मार्ग तो एक ही है। जो संसार में लाता है, वही स्वयं में भी ले जायेगा। केवल दिशा बिपरीत होगी। अभी तक जो सामने था, वही अब पीछे होगा। और जो पीठ की ओर था, उस पर आंखें करनी होंगी। रास्ता वही है, केवल हमें विपरीत मुड़ जाना है। सन्मुख से विमुख और विमुख के सन्मुख होना है।**

हम अभी किसके सन्मुख हैं? इसका विचार करें। हम किसे देख रहे हैं? इसे अनुभव करें। हमारी दर्शन की, चैतन्य की धारा अभी किस दिशा में प्रवाहित हो रही है? इसका निरीक्षण (Observation) करें। आप क्या पाते हैं? पाते हैं कि बाहर को बहे जाते हैं। सब विचार बाहर के संबंध में चल रहे हैं। चौबीस घंटे बाहर के लिये सोच रहे हैं।

बाहर को सोच रहे हैं। आंख खुलती है तो बाहर देखते हैं, आंख बन्द होती है तो बाहर देखते हैं, क्योंकि बाहर से अंकित रूप और चित्र (Images) आंख बन्द होने पर जाग जाते हैं, और हमें घेर लेते हैं। एक वस्तुओं का जगत बाहर है, और भीतर भी बाहर से प्रतिध्वनित एक विचारों का जगत है। वह भीतर होकर भी बाहर है, क्योंकि 'मैं' साक्षी की भांति उसके बाहर ही होता हूं। उसे भी मैं देखता हूं, इसलिये वह भी बाहर ही है। वस्तुयें घेरे हैं और विचार घेरे हैं। पर गहरा निरीक्षण करेंगे तो ज्ञात होगा कि **वस्तुओं का घेरा आत्मज्ञान के लिये बाधा नहीं है। बाधा विचार का घेरा है।** वस्तुयें आत्मा को घेर भी कैसे सकती हैं ? पदार्थ केवल पदार्थ को घेरता है। आत्मा विचार से घिरी है। दर्शन की, चैतन्य की धारा विचार की ओर बह रही है। विचार और विचार और विचार हमारे सन्मुख हैं। दर्शन उनसे ही आच्छादित है।

विचार से विमुख और निर्विचार (Thoughtless-ness) **के सन्मुख होना है। यही दिशा क्रान्ति है।** यह कैसे होगा ? विचार कैसे पैदा होते हैं, यह जानना जरूरी है, तभी उन्हें जन्मने से रोका जा सकता है। साधारणतः उनकी उत्पत्ति के सत्य को जाने बिना ही तथाकथित साधक उनके दमन (Suppression) में लग जाते हैं। इससे विक्षिप्त

तो कोई हो सकता है, विमुक्त नहीं हो सकता है। विचार के दमन से कोई अंतर नहीं पड़ता है, क्योंकि वे प्रतिक्षण नये नये उत्पन्न हो जाते हैं। वे पौराणिक कथाओं के उन राक्षसों की भांति हैं, जिनके एक सिर को काटने पर दस सिर पैदा हो जाते थे। मैं विचारों को मारने को नहीं कहता हूं। वे स्वयं ही प्रतिक्षण मरते रहते हैं। कौनसा विचार बहुत देर टिकता है ? विचार बहुत अल्पजीवी है। कोई भी विचार कहां ज्यादा जीता है ? **विचार तो नहीं टिकता, पर विचार प्रक्रिया** (Thought Process) टिकती है। एक एक विचार तो अपने आप मर जाता है, पर विचार प्रवाह नहीं मरता है। एक विचार मर भी नहीं पाता है कि दूसरा उसका स्थान ले लेता है। यह स्थान पूर्ति बहुत त्वरित है। यही समस्या है। **विचार की मृत्यु नहीं, उसकी त्वरित उत्पत्ति वास्तविक समस्या है। विचार को, इसलिये मैं मारने को नहीं कहता हूं; मैं उसके गर्भाधान को समझने और उससे मुक्त होने को कहता हूं।** जो विचार के गर्भाधान के विज्ञान को समझ लेता है, वह उससे मुक्त होने का मार्ग सहज ही पा जाता है। और जो यह नहीं समझता है, वह स्वयं ही एक ओर विचार पैदा किये जाता है और दूसरी ओर उनसे लड़ता भी है। इससे विचार तो नहीं टूटते, विपरीत वह स्वयं ही टूट जाता है।

मैं पुनः दोहराता हूं कि विचार समस्या नहीं, विचार की उत्पत्ति समस्या है। वह कैसे पैदा होता है, यह सवाल है? उसकी उत्पत्ति पर निरोध हो, या कहें कि विचार का जन्म निरोध (Birth Control of thought) हो तो पूर्व से जन्मे विचार तो क्षण में विलीन हो जाते हैं। उनकी निर्जरा तो प्रतिक्षण हो रही है, पर निर्जरा हो नहीं पाती है क्योंकि नयों का आस्रव और आगमन होता चला जाता है। **मैं कहना चाहता हूं कि निर्जरा नहीं करनी है, केवल आस्रव निरोध करना है। आस्रव निरोध ही निर्जरा है।** यह हम सब जानते हैं कि चित्त चंचल है। इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ है कि कोई भी विचार दीर्घजीवी नहीं है। विचार पलजीवी है। वह तो जन्मता है और मर जाता है। उसके जन्म को रोक लें तो उसकी हत्या की हिन्सा से भी बच जावेंगे, और वह अपने आप विलीन भी हो जाता है।

विचार की उत्पत्ति कैसे होती है?

विचार की उत्पत्ति, उसका गर्भाधान, बाह्य जगत के प्रति हमारी प्रतिक्रिया (Reaction) से होता है। बाहर घटनाओं और वस्तुओं का जगत है। इस जगत के प्रति हमारी प्रतिक्रिया ही हमारे विचारों की जन्मदात्री है। मैं एक फूल को देखता हूं, 'देखना' कोई विचार नहीं है, और यदि मैं देखता ही रहूं तो कोई विचार पैदा नहीं होगा। पर मैं देखते ही

कहता हूं कि 'फूल बहुत सुन्दर है' और विचार का जन्म हो जाता है। मैं यदि मात्र देखूं तो सौंदर्य की अनुभूति तो होगी, पर विचार का जन्म नहीं होगा। पर अनुभूति होते ही हम उसे शब्द देने में लग जाते हैं। **अनुभूति को शब्द देते ही विचार का जन्म हो जाता है। यह प्रतिक्रिया, यह शब्द देने की आदत, अनुभूति को, दर्शन को विचार से आच्छादित कर देती है। अनुभूति दब जाती है, दर्शन दब जाता है, और शब्द चित्त में तैरते रह जाते हैं। ये शब्द ही विचार हैं।** ये विचार अत्यंत अल्पजीवी हैं, और इसके पहले कि एक विचार मरे हम दूसरी अनुभूति को बिचार में परिणित कर लेते हैं। फिर यह प्रक्रिया जीवन भर चलती रहती है! और हम शब्दों से इतने भर जाते और दब जाते हैं कि स्वयं को ही उनमें खो देते हैं।

दर्शन को शब्द देने की आदत छोड़ना विचार का जन्म निरोध है। इसे समझें। मैं आपको देख रहा हूं, और मैं आपको मात्र देखता (Just seeing) ही रहूं, और इस दर्शन को कोई शब्द न दूं, तो क्या होगा? आप अभी कल्पना भी नहीं कर सकते हैं, कि क्या होगा? एक इतनी बड़ी क्रान्ति होगी कि जीवन में उससे बड़ी कोई क्रान्ति (Revolution) नहीं होती है। शब्द बीच में आकर उस क्रांति को रोक लेते हैं, विचार का जन्म उस क्रांति में अवरोध हो जाता है।

यदि, मैं आपको देखता ही रहूं और कोई शब्द इस दर्शन को न दूं....मात्र देखता ही रहूं तो आपको देखते-देखते मैं

पाऊँगा कि एक अलौकिक शान्ति मेरे भीतर अवतरित हो रही हैं, एक शून्य परिव्याप्त हो रहा है, क्योंकि शब्द का न होना ही शून्य है, और इस शून्य में चेतना (Consciousness) की दिशा परिवर्तित होती है, फिर आप ही नहीं दीखते हैं, वरन् क्रमशः वह भी उभरने लगता है जो कि आपको देख रहा है। चेतना क्षितिज पर एक नया जागरण होता है, जैसे कि हम किसी स्वप्न से जाग उठे हों, और एक निर्मल आलोक से और एक अपरिसीम शान्ति से चित्त भर जाता है।

इस आलोक में स्वयं का दर्शन होता है।

इस शून्य में सत्य का अनुभव होता है।

मैं अंत में यही कहूंगा कि इस साधना शिविर में दर्शन शब्द से आच्छादित न हो, यही प्रयोग हमें करना है। इस प्रयोग को मैं 'सम्यक् स्मृति' (Right Mindfulness) प्रयोग कहता हूं। यह स्मृति रखनी है, यह होश (Awareness) रखना है, कि शब्द का संगठन न हो। शब्द बीच में न आये यह हो सकता है, क्योंकि शब्द केवल हमारी आदत (Habit) है, एक नव-जात शिशु जगत को बिना शब्द के देखता है। वह शुद्ध प्रत्यक्षी-करण है, फिर धीरे-धीरे वह शब्द की आदत सीखता है, क्योंकि बाह्य जगत और वाह्य जीवन के लिये वह सहयोगी और उपयोगी है। पर जो बाह्य जीवन के लिये सहयोगी है, वही अंतस् जीवन को जानने में बाधा हो जाता है। और, इसलिये

एक बार फिर वृद्धों को भी नवजात शिशु के शुद्ध दर्शन को जगाना पड़ता है, ताकि वे स्वयं को जान सकें। शब्द से जगत को जाना, फिर शून्य से स्वयं को जानना होता है।

इस प्रयोग में हम क्या करेंगे ? शान्त बैठेंगे। शरीर को शिथिल (Relaxed) और रीढ़ को सीधा रखेंगे। शरीर के सारे हलन-चलन (Movement) को छोड़ देंगे। शान्त, धीमी पर गहरी श्वांस लेंगे। और मौन, अपनी श्वांस को देखते रहेंगे और बाहर की जो भी ध्वनियाँ सुनाई पड़ें, उन्हें सुनते रहेंगे। कोई प्रतिक्रिया नहीं करेंगे। उन पर कोई विचार नहीं करेंगे। शब्द न हों और हम केवल साक्षी हैं, जो भी हो रहा है, हम केवल उसे दूर खड़े जान रहे हैं, ऐसे भाव में अपने को छोड़ देंगे। कहीं कोई एकाग्रता (Concentration) नहीं करनी है। बस, चुप जो भी हो रहा है उसके प्रति जागरूक बने रहना है।

सुनो, आँखें बन्द करलो और सुनो....चुपचाप मौन में सुनो....चिड़ियों की टी....वी....टुट, हवाओं के वृक्षों को हिलाते थपेड़े, किसी बच्चे का रोना और पास के कुयें पर चलती हुई रेंट की आवाज....और बस सुनते रहो अपने भीतर सांस का स्पंदन और हृदय की धड़कन और फिर एक अभिनव शांति और सन्नाटा उतरेगा और आप पाओगे कि बाहर ध्वनि है पर भीतर निस्तब्धता है, और आप पाओगे कि एक नये शांति के आयाम में प्रवेश हुआ है।

तब विचार नहीं रह जाते हैं, केवल चेतना रह जाती है और इस शून्य के माध्यम में ध्यान (Attention) उस ओर मुड़ता है जहां हमारा आवास है। हम बाहर से घर की ओर मुड़ते हैं।

दर्शन बाहर लाया है, दर्शन ही भीतर ले आता है। केवल देखते रहो....देखते रहो... विचार को, श्वांस को, नाभि स्पंदन को....और कोई प्रतिक्रिया मत करो... और फिर कुछ होता है....जो हमारे चित्त की सृष्टि नहीं है ...जो हमारी सृष्टि नहीं है, वरन् जो हमारा होना है, जो हमारी सत्ता है....जो धर्म है....जिसने हमें धारण किया है....वह उद्घाटित हो जाता है और हम आश्चर्यों के आश्चर्य स्वयं के समक्ष खड़े हो जाते हैं।

मैं याद करता हूं : एक पहाड़ी पर एक साधु खड़ा था। अभी सुबह ही थी और सूरज की किरणों का जाल फैलना शुरू ही हुआ था। कुछ मित्र घूमने निकले थे। उन्होंने एकांत में खड़े उस साधु को देखा। उन्होंने आपस में सोचा : वह वहां क्या करता होगा? किसी ने कहा : कभी कभी उसकी गाय वन में खो जाती है, शायद वह ऊँचाई पर खड़ा होकर उसे ही खोजता है। पर दूसरे मित्र सहमत न हुये। एक ने कहा : उसे देख ऐसा नहीं लगता कि वह कुछ खोजता है। उसे देख लगता है कि वह किसी की प्रतीक्षा में है। कोई मित्र साथ आया होगा और वह पीछे छूट गया है, वह उसी की प्रतीक्षा कर रहा है। पर दूसरे

इससे भी सहमत न हुये। तीसरे ने कहा : 'न वह कुछ खोज रहा है, न प्रतीक्षा कर रहा है। वह प्रभु के चिंतन में लीन है।' उनमें सहमति न हो सकी। वे निर्णय के लिये साधु के पास गये। प्रथम ने साधु से पूछा : क्या आप अपनी गाय खोज रहे हैं। उस निर्जन में खड़े व्यक्ति ने कहा : नहीं। दूसरे ने पूछा : क्या आप किसी की प्रतीक्षा कर रहे हैं। उस एकाकी खड़े व्यक्ति ने कहा : नहीं। तीसरे ने पूछा : क्या आप प्रभु का चिंतन कर रहे हैं। वह फिर भी बोला : नहीं। वे तीनों हैरान हुए। उन्होंने सम्मिलित ही पूछा : फिर आप क्या कर रहे हैं? वह साधु बोला : "कर कुछ भी नहीं रहा हूं। मैं केवल खड़ा ही हूं (I am just Standing)। मैं बस हूं ही (I am just existing)।"

ऐसे ही बस होना है। कुछ भी नहीं करना है। सब छोड़ देना है और रह जाना है। फिर कुछ होगा जिसे शब्दों में नहीं कहा जा सकता है। वह अनुभूति ही, जो शब्दों में नहीं आती है, सत्य की, स्वयं की, परमात्मा की अनुभूति है।

★

एम० पी० स्टेट कोआपरेटिव मुद्रणालय परिमित
राइटटाउन जबलपुर।

"सत्य आपके भीतर है। सत्य मेरे भीतर है। उसे कहीं खोजने नहीं जाना है। उसे तो अपने में ही खोद लेना है। कुआँ खोदते हैं न ? वैसे ही आत्मा का कुआँ खोदना है, उस खुदाई का उपकरण ध्यान है। ध्यान की कुदाली से स्वभाव पर बैठी परभाव की मिट्टी अलग करनी है। वह निकट ही है, जिसे हम खोज रहे हैं। वह खोजने वाले में ही छुपा हुआ है।"